

# 1. भारतीय संस्कृति

## (Indian Culture)

### परिभाषा

संस्कृति का अर्थ जिन्दगी को जीने का तरीका होता है अर्थात् हमारे जीवन के तौर-तरीके और विचारों में, हमारे साहित्य में, हमारे धर्मों में, मनोरंजन और उपभोग में, हमारी मनोवृत्ति की अभिव्यक्ति के रूप में, संस्कृति को परिभाषित किया जा सकता है। यह आचारपरक और आदर्शवादी है। संस्कृति के दो भिन्न-भिन्न घटक हैं, भौतिक और गैर भौतिक, भौतिक संस्कृति में भौतिक दुनिया से संबंधित वस्तु होती है, जैसे कि हमारी पोशाक, भोजन, घरेलू सामान आदि गैर भौतिक संस्कृति से विचारों, आदर्शों, चिन्तन और विश्वास आदि का बोध होता है। इस प्रकार व्यक्तियों और उनके समूहों की सभी उपलब्धियों को सामूहिक रूप से हम संस्कृति कह सकते हैं। उल्लेखनीय है कि व्यक्ति के उपलब्धि में कला, संगीत, साहित्य, वास्तुकला, मूर्तिकला, दर्शन, धर्म, विज्ञान इत्यादि के क्षेत्र में उच्चतर उपलब्धियों को संस्कृति के रूप में शामिल किया जाता है।

संस्कृति स्थानों एवं देशों के साथ बदल जाती है, क्योंकि इसका विकास स्थानीय, क्षेत्रीय एवं राष्ट्रीय संदर्भों की ऐतिहासिक प्रक्रिया पर आधारित होता है। उदाहरण के लिए हमारी बधाई देने की शैली, पहनावे, खाने की आदतें, विवाह की रस्में और धार्मिक अनुष्ठान आदि पश्चिम से भिन्न हैं। दूसरे शब्दों में, किसी भी देश के लोग अपनी विशिष्ट सांस्कृतिक परम्पराओं के द्वारा पहचाने जाते हैं।

**भारतीय संस्कृति की विशेषताओं को हम निम्नलिखित रूपों में देख सकते हैं-**

### प्राचीनता

भारतीय संस्कृति की पहली विशेषता प्राचीनता है। चीन के अतिरिक्त किसी अन्य देश की संस्कृति इस दृष्टि से इसकी तुलना नहीं कर सकती। इसने यूनान और रोम का उत्थान तथा पतन देखा। जरथुस्त्री, यहूदी, ईसाई और मुस्लिम धर्मों के आविर्भाव से पहले इसका जन्म हो चुका था। मोहनजोदड़ों की खुदाई के बाद से मिस्र और मेसोपोटामिया की सभ्यताएँ भी इससे पुरानी नहीं रही। विश्व कवि रवीन्द्र के इन शब्दों में बड़ी सच्चाई है- “प्रभात उदय तव गगने। प्रथम सामरव तव तपोवने।”

### दीर्घजीविता

किन्तु प्राचीनता के साथ इसकी दूसरी बड़ी विशेषता दीर्घजीविता, चिरस्थायिता और अमरता है। यह पुरानी होते हुए भी अब तक जीवित और क्रियाशील है। इसके साथ की सुमेर, बाबुल, मिस्र, यूनान, रोम की गौरवपूर्ण प्राचीन संस्कृतियाँ अब केवल खण्डहरों के रूप में बची हैं, उनके निर्माता नष्ट हो चुके हैं और यूरोपियन विद्वान् उनकी कब्रें खोदकर उनका ज्ञान प्राप्त कर रहे हैं। किन्तु भारतीय संस्कृति की परम्परा मोहनजोदड़ों से महात्मा गांधी के युग तक कई सहस्राब्दियों का सुदीर्घ काल व्यतीत हो जाने पर भी अक्षुण्ण है। संस्कृत आज भी पण्डित-मण्डली में ढाई-तीन हजार वर्ष पहले की भाँति लिखी, पढ़ी, बोली और समझी जाती है। अनेक सामाजिक परिवर्तन होने पर भी गृह्यसूत्रों में वर्णित वैवाहिक विधि लगभग ढाई हजार वर्ष से एक जैसी है। भारतीय समाज का आदर्श और आकांक्षाएँ रामायण, महाभारत के समय से लगभग वही हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि विभिन्न समयों में नवीन प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होती रही, वे भारत पर अपना जबरदस्त प्रभाव डालती रही। इस पर ईरानी, यवन, शक, पल्लव, कुशाण, हूण, अरब, तुर्क, पठान व यूरोपियन जातियों के आक्रमण हुए, किन्तु फिर भी भारतीय संस्कृति की परम्परा का कभी अन्त नहीं हुआ। अमेरिका के प्रसिद्ध लेखक विल ड्येरेंट ने भारतीय संस्कृति की इस विशेषता को बड़े सुन्दर शब्दों में प्रकट किया है- “यहाँ ईसा से 2900 वर्ष पहले मोहनजोदड़ों से महात्मा गांधी, रमण और टैगोर तक उन्नति और सभ्यता का शानदार सिलसिला जारी रहा है। ईसा से आठ शताब्दी पहले उपनिषदों से आरम्भ होकर ईसा के आठ सौ वर्ष शंकर तक ईश्वरवाद के हजारों रूप प्रतिपादन करने वाले दार्शनिक यहाँ हुए हैं। यहाँ के वैज्ञानिकों ने तीन हजार वर्ष पहले ज्योतिष का आविष्कार किया और इस जमाने में भी नोबेल पुरस्कार जीते हैं। कोई भी लेखक मिस्र, बेबीलोनिया और असीरिया के इतिहास की भाँति भारत के इतिहास को समाप्त नहीं कर सकता, क्योंकि भारत में इतिहास का अभी तक निर्माण हो रहा है, उसकी सभ्यता अब भी क्रियाशील है।” महाकवि इकबाल ने इसी बात को लक्ष्य में रखते हुए लिखा था- “यूनान मिस्र रोमों सब मिट गए जहाँ से, कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी।” यह ‘कुछ बात’ क्या है, अगली विशेषताओं से भली भाँति स्पष्ट हो जाएगा।

### आनुकूल्य

भारतीय संस्कृति के दीर्घ जीवन का रहस्य उसकी तीन विशेषताओं में छिपा हुआ है- आनुकूल्य, सहिष्णुता, ग्रहणशीलता। आनुकूल्य का आशय है- अपने को परिस्थितियों के अनुकूल बनाये रहना। जीव-शास्त्र का यह नियम है कि वही प्राणी दीर्घजीवी होते हैं जिनमें यह विशेषता पाई जाती है। भूतल पर पहले हाथियों से भी कई गुना बड़े भीमकाय जानवर रहते थे, वे जीवन-संघर्ष की प्रगतियोगिता में समाप्त हो गए, क्योंकि कई परिस्थितियाँ उत्पन्न होने पर वे अपने को उनके अनुकूल नहीं ढाल सके। संस्कृतियों पर भी यही नियम लागू होता है। मिस्र, मेक्सिको और ईरान की संस्कृतियाँ विदेशी आक्रमणों में अपने को नहीं संभाल सकी, उनका अन्त हो गया, किन्तु भारतीय संस्कृति अपने इस गुण के कारण इन सब विषम परिस्थितियों में उपर्युक्त परिवर्तन करती हुई जीवित रही। हमारे धर्म, समाज, आचार-विचार में निरन्तर अन्तर आता चला गया, किन्तु वह इतना शनैः-शनैः और सूक्ष्मता से हुआ कि हमें उसका बिल्कुल ज्ञान नहीं। वैदिक युग से वर्तमान युग तक

पहुँचते-पहुँचते हम काफी बदल चुके हैं, जैसे उस समय में हमारा धर्म यज्ञ-प्रधान था, आज भक्तिमूलक है। इसी प्रकार विभिन्न आक्रान्ताओं के आने से जो नवीन परिस्थिति पैदा हुई, उसमें भी इसी अनुकूलता ने भारतीय संस्कृति को बचाए रखा। यह स्मरण रखना चाहिए कि गुप्त युग से भारत के मौलिक आदर्शों में कोई अन्तर नहीं आया। मुसलमानों और अंग्रेजों के शासन-काल में शिक्षित वर्ग द्वारा विजेताओं का रहन-सहन, वेश-भूषा और भाषा आदि ग्रहण करने पर भी भारत ने अपने परम्परागत धर्म और सामाजिक रूढ़ियों का परित्याग नहीं किया, इस्लाम और ईसाइयत को अंगीकार नहीं किया।

### सहिष्णुता

यह भारतीय संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता है। विजेताओं में प्रायः असहिष्णुता होती है। पुराने जमाने में सब धर्मों और जातियों में यह भावना उग्र रूप से पाई जाती थी। यूनान में सुक्रात को इसीलिए जहर का प्याला पीना पड़ा था, फिलस्तीन में इसी कारण ईसा को सूली पर लटकाना पड़ा था। प्राचीन इतिहास में सम्भवतः भारत ही एकमात्र ऐसा देश था, जहाँ हिंसा और धर्मान्धता का प्राधान्य नहीं रहा। सामान्य विजेताओं की नीति प्रायः विध्वंस और विनाश की होती है। यूरोपियनों ने अमेरिका में माया संस्कृति का अन्त किया, अरबों ने मिस्र की यूनानी और ईरान की पुरानी सभ्यताओं की समाप्ति की। धर्म की दृष्टि से न केवल एक धर्म ने दूसरे धर्म पर किन्तु अपने धर्म में विभिन्न मत रखने वालों पर जो भीषण अत्याचार किए, उनसे यूरोपियन इतिहास के अनेक पृष्ठ रक्तंजित हैं। सोलहवीं सदी में चार्ल्स पंचम के शासन-काल में केवल हालैंड में रोमन कैथोलिकों से भिन्न सिद्धान्तों वाले जिन प्रोटेस्टेंटों की चिता पर जलाकर या अन्य ढंगों से मारा गया, उनकी संख्या पचास हजार थी। यह स्मरण रखना चाहिए कि यह कम-से-कम अन्दाजा है। फ्रांस में फ्रांसिस प्रथम ने 1945 ई. में अपनी मृत्यु से पूर्व आल्प्स पर्वतमाला के तीन हजार निरीह निःशस्त्र कृषकों के कल्लेआम की आज्ञा देकर आत्मिक शान्ति प्राप्त की। उनका एकमात्र अपराध यह था कि वे ईसाइयत के मूल सिद्धान्तों में विश्वास रखते हुए पोप तथा पादरियों की प्रभुता नहीं मानते थे। इस प्रकार की दारुणतम घटना फ्रांस में उस समय हुई जबकि एक ही रात (23-24 अगस्त 1572 ई.) को पेरिस में दो हजार काह्यू जनाटों (फ्रेंच प्रोटेस्टेंटों) का वध किया गया। समूचे फ्रांस में एक महीने तक यह क्रूर हत्याकाण्ड चलता रहा। इस अल्प काल में ही सत्तर हजार नर-नारियों और अबोध शिशुओं की धर्म के नाम पर बलि चढ़ाई गई। यह सब इसलिए हुआ कि रोमन कैथोलिक यह नहीं चाहते थे कि कोई उनसे भिन्न विश्वास रखे।

किन्तु भारत में प्रारम्भ से ही सहिष्णुता की प्रवृत्ति प्रबल रही। सबको धार्मिक विश्वास और पूजा-विधि की पूरी स्वतंत्रता दी गई। ऋग्वेद में कहा गया था- ‘एकम सद् विप्र बहुधा वदन्ति’ (एक ही भगवान् का ज्ञानी नाना रूप से वर्णन करते हैं)। गीता में इसी विचार को पराकाष्ठा तक पहुँचाया गया है। भगवान् कृष्ण को इस कथन से ही सन्तोष नहीं है कि ‘ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्’ किन्तु उन्होंने यहाँ तक भी कहा है कि अन्य देवाताओं की श्रद्धापूर्वक उपासना करने वाले भी मेरा ही भजन करते हैं (9/23)। अशोक ने इस तत्व पर बल देते हुए कहा ‘समवाय एवं साधु’। भारतीयों का यह विश्वास था कि भगवान् एक अचिन्त्य, अव्यक्त, सर्वशक्तिमान, सत्ता है, विविध प्रकार की उपासनाएँ उस तक पहुँचने के मार्ग हैं। जब लक्ष्य एक है तो मार्गों के बारे में क्या झगड़ा किया जाए। यही कारण है कि यहाँ सभी पन्थ प्रीतिपूर्वक रहते रहे। इस सहिष्णुता से आर्यों ने अपने से भिन्न अनार्यों और विधर्मियों की उपासना-विधियाँ भी स्वीकार की। भारत ने विदेशों से धार्मिक अत्याचारों द्वारा पीड़ित होकर आने वाले पारसियों, यहूदियों और सीरियन ईसाइयों को अपने यहाँ उदारतापूर्वक शरण दी। इसी से आर्य विविध आचार-विचार और धार्मिक विश्वासों वाली भारत की जातियों में न केवल एकता उत्पन्न कर सके, प्रत्युत भारत में अपनी संस्कृति का प्रसार करने में भी समर्थ हुए।

### ग्रहणशीलता

सहिष्णुता से भारतीय संस्कृति में ग्रहणशीलता या सात्व्यीकरण की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई। इसका आशय यह है कि भारत में जो नए तत्व आते गए, भारतीय उन्हें पचाकर अपना अंग बनाते गए। शरीर तभी तक बढ़ता है जब तक वह खाई जाने वाली वस्तुओं को अपना अंग बनाता रहे। भारतीय संस्कृति का उस समय तक उत्कर्ष होता रहा जब तक वह बाहर से आने वाले सभी तत्वों को पचाती रही। प्राचीन काल में उसने ईरानी, यूनानी, शक, यहूदी, कुशाण, हूण आदि अनेक विदेशी तत्वों को आत्मसात् कर लिया। जातियों को पचाने के अतिरिक्त उसने दूसरी संस्कृतियों के सुन्दर तत्व ग्रहण करने में कभी संकोच नहीं किया। भारतीय ज्योतिष और कला के यूनानी तथा इस्लामी प्रभाव से समृद्ध होने का पहले उल्लेख किया जा चुका है, वर्तमान काल में उसने यूरोप से बहुत कुछ सीखा है।

इस ग्रहणशीलता के कारण भारत में जितना वैविध्य, विशालता और व्यापकता दिखाई पड़ती है, उतनी शायद ही किसी दूसरे देश में हो। हमने ग्रहणशीलता के कारण जो कुछ आया उसे रख लिया और सहिष्णुता के कारण उसे नष्ट नहीं किया। यही कारण है कि जैसे हमारे देश में सब प्रकार का जल, वायु, वृक्ष, वनस्पति और पशु-पक्षी पाए जाते हैं वैसे ही सब प्रकार के धार्मिक विश्वास तथा रहन-सहन के ढंग भी मिलते हैं। श्री कृपलानी ने इस विशेषता का बड़े मनोरंजक ढंग से प्रतिपादन किया है- “हमारा भोजन और पोशाक हर युग में बदलती रही है। पहले दाल-भात और रोटी भोजन था फिर खिचड़ी आई, पठान, मुगल और तुर्क पुलाव, कुरमा तथा कबाब लाए, यूरोपियनों से चाय, केक, डबल रोटी, बिस्कुट आए। ये सब भारत में बिना कोई झगड़ा किए शान्तिपूर्वक रह रहे हैं। खाने के बर्तन थे, फिर मुसलमानों का लोटा आया और अन्त में चीनी के बर्तन, चम्मच और छुरी-काँटे। ये सब भी इकट्ठे चल रहे हैं। तम्बाकू पीने तक के ढंग में एकता नहीं है, इसमें हुक्के से चिलम, बीड़ी, सिगरेट, सिगार और पाइप तक सब फैशन चलते हैं। संक्षेप में मानव-जाति को विभिन्न हिस्सों में बाँटने वाले सब पन्थ यहाँ पाये जाते हैं। सब प्रकार की पूजा-पद्धतियाँ यहाँ प्रचलित हैं। प्राचीन काल के वेद, कपिल और चार्वाक से आधुनिक युग के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद तक सब विचारधाराएँ और दर्शन यहाँ मिलते हैं।” सब-प्रकार के वैयक्तिक कानून यहाँ प्रचलित हैं।

विवाह पवित्र संस्कार है और इच्छा से तोड़ा जाने वाला सम्बन्ध मात्र भी। बहुपत्नीत्व भी है और बहुपतित्व भी। पुराने चार वर्ण भी हैं और वे चार हजार जातियों तक जा पहुँचे हैं। जो प्रथा, संस्था या व्यवस्था एक बार ग्रहण की जाती है, उत्पन्न हो जाती है, वह कभी नष्ट नहीं होती। भारतीय संस्कृति की विशेषता ग्रहण और संरक्षण है, विनाश और विध्वंस नहीं। यहाँ का मुख्य सिद्धान्त 'जियो और जीने दो' का है। भारत इसी से अतीत में अमर रहा है और जब तक वह इसका पालन करेगा, अमर बना रहेगा।

### सर्वांगीणता

भारतीय संस्कृति की और विलक्षणता सर्वांगीण विकास की ओर ध्यान देना था। उसका लक्ष्य ऐहिक और पारलौकिक दोनों प्रकार की उन्नति करना था। यहाँ शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक तीनों प्रकार की शक्तियों के विकास पर समान बल दिया गया। पुराने यूनानियों की दृष्टि शारीरिक और मानसिक उन्नति से आगे नहीं गई। सुकरात का आत्मा को पहचानने का उपदेश वहाँ अरण्यरोदन ही सिद्ध हुआ। आज पश्चिमी संस्कृति भी भौतिकवाद में आपादमस्तक निमग्न है। उसने प्रकृति के अधिकांश रहस्य ढूँढ़ लिए हैं, उत्तरी-दक्षिणी ध्रुवों को खोज डाला है, अफ्रीका के घने जंगल और भू-मण्डल के सब सागर मथ डाले हैं। सब प्रकार के विज्ञानों अनुसन्धान द्वारा भूतल की प्रत्येक वस्तु को समझने का प्रयत्न किया। यदि उसने किसी विज्ञान का विकास नहीं किया तो वह है, आत्म-विज्ञान। किन्तु भारत में प्राचीन काल से शरीर, मन और आत्मा के सामंजस्यपूर्ण विकास को जीवन का ध्येय माना गया था। शास्त्रकारों के मतानुसार मनुष्य को चार पुरुषार्थ प्राप्त करने का यत्न करना चाहिए। ये हैं- धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इनमें पहला और अन्तिम आत्मिक विकास के लिए था और दूसरा तथा तीसरा शरीर और मन की उन्नति के लिए। इनकी समुचित प्राप्ति के लिए जीवन चार आश्रमों में बाँटा गया था। ब्रह्मचर्य और गृहस्थ पहले तीन पुरुषार्थों के लिए थे और अन्तिम दो आश्रमों में मोक्ष-प्राप्ति का यत्न किया जाता था। प्रायः भारतीय संस्कृति में आध्यात्मिक तत्व को प्रधानता मानी जाती है, किन्तु अपने सर्वोत्तम काल में उसने आध्यात्मिक और भौतिक दोनों तत्वों पर समान रूप से बल दिया। धर्म और मोक्ष का पालन उतना ही आवश्यक था, जितना कि अर्थ और काम का सेवनायक कहा जाता था कि चारों की प्राप्ति का प्रयास समान रूप से करना चाहिए। जो एक का ही सेवन करता है, वह निन्दा का पात्र है (धर्मार्थकामाः सममेव सेव्याः, यो ह्येकसक्तः स जनो जघन्यः)। मनुष्य का आदर्श सर्वांगीण विकास है, वह न तो धर्म की उपेक्षा करे और न ही काम और धर्म की ओर अधिक ध्यान दे। जब तक भारतीय संस्कृति वैचारिक और धार्मिक दोनों तत्वों पर समान ध्यान देती रही, उसका उत्कर्ष होता रहा। उसके पतन का सूत्रपात उसी काल से आरम्भ हुआ जब उसने दोनों के उचित समन्वय और समन्वय की ओर ध्यान न देकर केवल परलोक की ही चिन्ता की।

### संचरणशीलता

भारतीय संस्कृति पर प्रायः यह दोष लगाया जाता है कि संन्यास और वैराग्य के तत्वों पर बल देने के कारण वह निष्क्रियता को प्रोत्साहित करती है। किन्तु दूसरे अध्याय में यह बताया जा चुका है, कि प्राचीन काल में इसका मूल मन्त्र निरन्तर आगे बढ़ने की भावना थी, उसमें ओजस्वी भावों की प्रधानता थी। 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' का ध्येय लिए हुए वह दुनिया को किसी प्राकृतिक या मानवीय बाधा के आगे हार मानने को तैयार नहीं थी। उसे अपने पुरुषार्थ की सफलता में पूरा विश्वास था। उसमें वह पराक्रम, साहस, महत्वाकांक्षा, उच्च कल्पना, विशाल दृष्टि, आगे बढ़ने की उमंग थी, जो मनुष्य को नए देश खोजने और जीतने की तथा नई जिम्मेदारियाँ उठाने की प्रेरणा देती है। प्राचीन संस्कृति में लगभग वही ओजस्विता और महाप्राणता थी, जो मध्य काल में अरबों ने प्रदर्शित की और आजकल यूरॉपियन जातियाँ दिखा रही हैं।

### जगद्गुरु

संचरणशीलता के कारण भारतीय संस्कृति का विदेशों में अभूतपूर्व प्रसार हुआ। दुनिया की किसी दूसरी प्राचीन संस्कृति ने इतने बड़े भाग को प्रभावित नहीं किया। सिल्वें लेवी के शब्दों में "ईरान से चीनी समुद्र तक, साइबेरिया के मानवीय प्रदेशों से जावा, बोरनियों के टापुओं तक, प्रशान्त महासागर के द्वीपों से सोकोतरा तक भारत ने अपने धार्मिक विश्वासों, कथा-साहित्य और सभ्यता का प्रसार किया। उसने मानव-जाति के चतुर्थांश पर अनेक सदियों के सुदीर्घ काल तक अपने अमिट प्रभाव डाला।" एशिया के अधिकांश भाग में संस्कृति और सभ्यता का आलोक फैलाने वाले भारतीय ही थे। यही उस समय का ज्ञात जगत् था, अतएव भारत को जगद्गुरु कहा जाता है।

अपनी उपर्युक्त विशेषताओं के कारण, गुप्त युग तक भारत ने असाधारण उन्नति की, उसके बाद सर्वनाश प्रारम्भ हुई। पहले अध्यायों में उत्कर्ष और अपकर्ष के कारणों पर प्रकाश डाला जा चुका है। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि संकीर्णता और अनुदारता की वृत्तियाँ, धर्म तथा परलोक की अत्यधिक चिन्ता, मोह-निद्रा और मिथ्याभिमान, अन्धविश्वासों और संकुचित मनोवृत्तियों का प्रभाव इसके मुख्य कारण थे। इनसे मध्य एवं वर्तमान युग में प्राचीन काल की भाँति हमारी अग्रणी की स्थिति नहीं रही।

भारतीय संस्कृति का भूत अत्यन्त उज्ज्वल था। भविष्य को उपर्युक्त भूलों से बचते हुए और भी अधिक गौरवपूर्ण बनाया जा सकता है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद, इस विषय में हमारा उत्तरदायित्व बहुत अधिक बढ़ गया है। प्राचीन काल में भारत ने लगभग सारे एशिया में ज्ञान की ज्योति जगाई थी। छठीं ई. तक विश्व का नेतृत्व किया था। इसके बाद हम प्रगाढ़ मोहनिद्रा में पड़ गए। तेरह सदियों के सुदीर्घ विश्राम के बाद हम आज फिर जगे हैं। किन्तु इस बीच में दुनिया में आमूल-चूल परिवर्तन हो चुके हैं।

इस समय ज्ञान का सूर्य पश्चिम में चमक रहा है। वैज्ञानिक आविष्कारों से मानव जीवन का काया पलट हो गया है। विज्ञान ने मनुष्य को ऐसा गुरु-मन्त्र प्रदान किया है, जिससे प्रकृति की गुप्त निधियों के द्वार सहज में खुल जाते हैं, देवताओं

की अलौकिक शक्ति सुगमता से प्राप्त हो जाती है। हमारे देश की पुरानी परिपाटी यही है कि हम दूसरों के प्रत्येक ज्ञान और सच्चाई को ग्रहण करें तथा उसमें वृद्धि करके, उसे दूसरे देशों को दें। जो कार्य भारत ने पहले गणित और ज्योतिष के क्षेत्र में किया, वह आज ज्ञान-विज्ञान की प्रत्येक शाखा में होना चाहिए। इसी प्रकार भारत दूसरों का गुरु बन सकता है और अपने जगद्गुरु होने की प्राचीन परम्परा को अक्षुण्ण रख सकता है।

किन्तु इसमें मध्य युग की उपर्युक्त प्रवृत्तियाँ जबरदस्त बाधक है। आज हमें संकीर्ण एवं अनुदार भावों को तिलांजलि देनी होगी, मिथ्याभिमान का तर्पण और अन्धविश्वासों की होली करनी होगी। जातीय जीवन को दुर्बल बनाने वाले अस्पृश्यता आदि कलकों का परिमार्जन करना होगा। कर्मयोग की विचारधारा को प्रधानता देनी पड़ेगी। परलोक से इहलोक की ओर मुँह मोड़ना होगा। इसकी यह कहकर अवहेलना नहीं की जा सकती कि यह तो जड़वाद की ओर कदम बढ़ाना है। पश्चिम में विज्ञान की हिंसा दानवी शक्ति की ओर संकेत करके अध्यात्मवाद का समर्थन नहीं किया जा सकता।

कहा जाता है कि प्राचीनता में केवल संयम है, गति नहीं। आधुनिकता में केवल गति है, संयम नहीं। एक जगह लगाम है, घोड़ा नहीं, दूसरी जगह घोड़ा है, लगाम नहीं। यूरोप ने गतिशील विज्ञान का आश्रय लेकर संयम-प्रधान धर्म को छोड़ दिया है। अतएव वहाँ अणुबम आदि के रूप में सृष्टि का संहार करने वाली रुद्र की भैरव मूर्ति प्रकट हो रही है।

यह सत्य है, किन्तु आध्यात्मवाद और प्रकृतिवाद दोनों आवश्यक है। दोनों का उचित सामंजस्य होना चाहिए। प्रकृतिवाद अध्यात्मवाद के बिना अन्धा है, अध्यात्मवाद प्रकृतिवाद के बिना लँगड़ा है। 'अन्धपंगुन्याय' से दोनों का सम्मिश्रण होना चाहिए। धर्म का लक्ष्य परलौकिक ही नहीं किन्तु ऐहिक उन्नति भी है। 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयसिद्धिः स धर्मः' जिससे इहलोक और परलोक दोनों में उत्कर्ष हो, वही धर्म है। पश्चिम में अनर्थ और उत्पात इसलिए है कि वहाँ केवल जड़वाद है, भारत में बुद्ध कहा करते थे— "भारत को वेदान्त भुलाने की आवश्यकता है, पश्चिम को अध्यात्म सीखने की जरूरत है।"

आजकल प्राचीन संस्कृति के पुनरुज्जीवन पर बड़ा बल दिया जा रहा है, किन्तु यदि इसका आशय केवल इतना ही हो कि हम उस संस्कृति की गौरव-गाथा का गान करें, उस पर अभिमान करके उससे सन्तुष्ट होकर बैठ जाएँ तो यह उसके साथ घोर अन्याय होगा। मिथ्याभिमान मध्ययुगीन में हमारी निष्क्रियता और पतन का कारण बना, आज भी वह हमारी उन्नति में बाधक होगा। हमारे पूर्वज भले ही बहुत बड़े हो, किन्तु सोचना तो यह है कि हम क्या हैं? यदि वे संसार के नेता थे तो हमारा उनके वंशज होने का अभिमान तभी सार्थक होगा, जब हम भी अपने प्रयत्नों से देश की सर्वांगीण उन्नति का प्रयत्न करें और उसको फिर जगद्गुरु बनाएँ। यह काम कोरी बातों का नहीं, किन्तु उनकी भावनाओं और गुणों-संचरणशीलता, सहिष्णुशीलता, ग्रहणशीलता, समन्वय, निरन्तर कर्मशीलता आदि के अपनाने और उदात्त आध्यात्मिक आदर्शों को क्रियात्मक रूप देने से होगा।

आज संसार के उद्धार की आशा भारतीय संस्कृति पर है। इस समय यूरोपियन राष्ट्रों की साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा से तृतीय विश्व-युद्ध के काले बादलों की घटा छा रही है, चारों तरफ घना अंधकार फैला हुआ है। मानव अपने सर्वनाश की आशंका से भयभीत और संत्रस्त है। किन्तु इस घोर तिमिर में भारतीय संस्कृति तथा उसकी आध्यात्मिकता ही एकमात्र प्रकाश की किरण है, घने बादलों में आशा की चमकीली सामर्थ्य यूरोपियन राष्ट्रों का संयुक्त राष्ट्र संघ के पास नहीं। वह अन्तर्राष्ट्रीय परिषदों और संधियों से भी नहीं शान्त हो सकता। उसे भारतीय संस्कृति, अहिंसा तथा बापू के उपदेशामृत पर आचरण को बुझा सकता है। विश्व-शान्ति की समस्या का हल भारत के ही पास है। अतः भारतीय संस्कृति का भविष्य भूत की अपेक्षा अधिक उज्ज्वल और गौरवपूर्ण है।

### वैश्वीकरण के समक्ष भारतीय संस्कृति

वैश्वीकरण कार्यचरणों में चलने वाली वह प्रक्रिया है जो 19वीं शताब्दी के प्रारंभ से मानी जा सकती है और आज अपने तूफानी दौर से गुजर रही है। 19वीं शताब्दी की शुरुआत में जब ब्रिटेन सहित यूरोप के देशों में औद्योगिकीकरण की प्रक्रिया प्रारंभ हुई तो इसे बाजार एवं कच्चे माल की आवश्यकता भी पड़ी। प्रारंभ में यूरोप ने अपने अंदर ही झाँका लेकिन एक समय के बाद वहाँ के बाजार एवं कच्चेमाल के स्रोत काफी सिद्ध नहीं हुए। औद्योगिकीकरण पानी के जहाजों पर सवार होकर भारत आ पहुँचा, मशीनों के साथ नहीं, बने-बनाए माल के साथ। इधर से ये जहाज जहाँ कच्चा माल ले जाते थे, और बदले में बने बनाए माल लाते फलतः भारत में शोषण की प्रक्रिया प्रारंभ हुई। इसे इतिहासकार 'उपनिवेशवाद' कहते हैं।

लेकिन उपनिवेशवाद एक प्रक्रिया मात्र ही नहीं था बल्कि सांस्कृतिक मूल्यों की एक प्रणाली भी थी। एक तरफ अपनी सांस्कृतिक अहंमन्यता से ग्रस्त यूरोपीय समाज था तो दूसरी ओर अपनी 3500 वर्षों पुरानी संस्कृति के साथ भारत जैसा होता रहा है कि शासक वर्ग की संस्कृति को शासित वर्ग या तो अपना लेता है या अपनाने को बाध्य होता है। ऐसे भारत में भी हुआ। अपनी 200 वर्षों की गुलामी में भारत बदला-बाह्यरूप से अधिक, आंतरिक रूप से थोड़ा कम। इसे बदलने की प्रक्रिया को एक ओर जहाँ 'आधुनिकता' कहा गया वहीं कुछ लोगों ने इसे 'सांस्कृतिक पतन' भी माना लेकिन साफ कर दें कि यह सांस्कृतिक पतन नहीं बदलने की एक प्रक्रिया ही थी जिसमें भारत पश्चिम के आधुनिक मूल्यों-समानता, स्वतंत्रता, न्याय, मानवाधिकार, स्त्री अधिकार, प्रेस और समग्र रूप से राष्ट्र राज्य की रूपरेखा से परिचित हुआ। इन मूल्यों को समय के घात प्रतिघातों के साथ उसने अपनाया भी। चूँकि भारत के पश्चिमी जगत, जिसमें अमेरिका भी शामिल है, इससे जुड़ने की प्रक्रिया 20वीं शताब्दी के पहले 50 वर्षों में धीमी रही और अगले 50 वर्षों में यह प्रक्रिया अपेक्षाकृत बड़ी तेज हो गई। अतः परिवर्तन भी बड़ी तेजी से हुए।

यह जुड़ने की प्रक्रिया ही वैश्वीकरण है जिसमें वस्तुओं, सेवाओं, पूंजी और विचार का प्रवाह बड़ी (त्वरित गति) से हो रहा है। यह त्वरा जब अनियंत्रित हो उठती है तो भारत क्या, किसी भी देश में विश्वोभ का देखा जाना स्वभाविक है।

20 वीं शताब्दी के 5 वें दशक में भारत सहित दुनिया के नवस्वतंत्र देश अपनी पहचान स्थिर कर रहे थे तो ब्रिटेन की शक्ति धराशाई हुई तथा ब्रेटन वुड्स व्यवस्था तथा परमाणु बम से लैस अमेरिका ने सारी दुनिया को अपने वर्चस्व में लाने की नव साम्राज्यीय मुहिम चालू की। इस मुहिम को सबसे ज्यादा संभव बनाया है अमेरिका के व्यापार प्रबंधक समूहों ने जिन्होंने, चोम्सकी के शब्दों में सांस्कृतिक सर्वाधिकारवाद (कल्चरल हेजेमनी) का सहारा लिया है। सीधे तरीके से साम्राज्य स्थापित करने के बजाय वैश्वीकरण की सबसे बड़ी प्रेरक शक्ति अमेरिका, ब्रिटेन, आस्ट्रेलिया और फ्रांस जैसे देशों ने भारत सहित तीसरी दुनिया के बड़ी जनसंख्या वाले देश में अपना आक्रामक बाजार स्थापित कर दिया है।

इस वैश्विक बाजार में सबसे पहले लक्षित समूहों/देश की सांस्कृतिक चेतना को भोथरा कर उस पर अपने बीज आरोपित किए जाते हैं। मस्तिष्क को देह से पहले अपने उत्पाद का उपभोक्ता बनाने को तैयार किया जाता है। यह उपभोक्ता बनता है मीडिया के सहारे और मीडिया चाहे वह प्रिंट हो या इलेक्ट्रॉनिक, इन्हीं बड़े व्यापारिक समूहों की कठपुतली है। संस्कृति कोई अस्थायी या दिखने वाली चीज नहीं है जिसे कोई देश एक दिन में बना लेता है, बल्कि यह संगीत के सुरों की तरह उप-अनगंद पत्थरों के पानी में बहाव की तरह हजारों वर्षों की क्रिया-प्रतिक्रिया से उपज कर हमारी चेतना में समा जाती है। संस्कृति हमारे व्यवहार नियंत्रित करती है।

इस चेतना, इस व्यवहार को ही वैश्वीकरण के हरबे-हथियार बदल देते हैं। वह हर कोई चीज जो हमारी संस्कृति में उदात्त है, शाश्वत है उसे ओछा दिखाकर संस्कृति का मुलम्मा हम पर चढ़ा दिया जाता है, जिससे हम उनके सशय ग्राहक बन सके।

आज हम एक अंतर्निर्भर विश्व में जी रहे हैं पूरी दुनिया की जीवन प्रणाली बदल रही है। आजादी के 64 वर्षों में भारत बहुत आगे निकल चुका है और अपने विकास की वह संभावना रखता है जिसे- विवेकानंद के शब्दों में, देखकर दुनिया दंग रह जाएगी। भारत आगे बढ़ने की प्रक्रिया में पीछे कैसे रह सकता है?

लेकिन एक क्षण के लिए ठहरकर देखें और सोचें कि हम क्या थे, क्या हैं और क्या होंगे अभी।

भारतीय जीवन मूल्य एक सुसंगत सामाजिक परंपरा, उच्च नैतिक मूल्य, स्थायी पारिवारिक संबंध और प्रकृति के साथ सहजीवी तथा रागात्मक संबंध पर आधारित रहे हैं। आज वैश्वीकरण ने लगता है, इसे एक झटके में तोड़ दिया है। संवृद्धि (ग्रोथ) की हड़बड़ी में हम बहुत कुछ खोते जा रहे हैं। भीड़ में आत्मनिर्वासन की स्थिति है। परिवार टूट रहे हैं। माता-पिता की भौतिक उपस्थिति से वंचित हमारे बच्चे यानि भविष्य के भारतीय नागरिक कुठित और हिंसक होते जा रहे हैं। हमारे वृद्धजन जीवन को गोधूलि में अकेले हो गए हैं और किसी देश की प्राणवायु यानि युवा वर्ग वैश्वीकरण के झिलमिल पासा में फंस गया है।

हमारे युवाओं की जीवन शैली ने अपनी संस्कृति और जलवायु खाद्य आदतों से कुछ इस तरह से संपर्क तोड़ लिया है कि भारत दुनिया का सबसे अधिक मधुमेह रोगियों की संख्या वाला देश बन गया है। 10वीं पंचवर्षीय योजना में इस बात पर चिंता जताई गई थी कि बदलती जीवनशैली से हमारे युवाओं की उत्पादकता अर्थात् देश का विकास प्रभावित हो सकता है। इस प्रकार वैश्वीकरण व्यक्ति से लेकर समष्टिगत प्रभाव रखता है।

फिर एक बात उठनी स्वाभाविक है, कि केवल नकारात्मक प्रभाव ही प्रभावी रहे हैं या वैश्वीकरण के कुछ सकारात्मक प्रभाव भी हमारे समाज में अंतर्व्याप्त हुए हैं। इन्हें भी देखा जाना चाहिए। वैश्वीकरण ने हमारी परंपरागत चेतना को कई प्रकार से प्रभावित किया है। आज के 50 वर्ष पहले शिक्षा पर खर्च किया जाता था, अब शिक्षा पर खर्च निवेश माना जाने लगा है। यह निवेश अनंत गुना लाभ दे सकता है। इस चेतना से व्यवसायिक शिक्षा की तरफ युवाओं का रुझान बढ़ा है और शिक्षा केवल सरकारी नौकरी पाने का जरिया न बनकर एक रोजगार उपलब्ध कराने वाली बस बन गई है। हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है, कि यह शिक्षा मस्तिष्क और हृदय में पर्याप्त साम्य नहीं स्थापित कर पा रही है। उपर्युक्त पंक्तियों में वर्णित चुनौतियाँ इस कारण भी महत्वपूर्ण हो जाती हैं कि वैश्वीकरण ने शिक्षा को वह अर्थ बदल दिए हैं जो व्यक्तित्व की समग्रता पर जोर देता है। मनुष्य पैसा छापने वाली मशीन नहीं है, उसको मंत्रादित तरीके से व्यय करने की प्रणाली है।

वैश्वीकरण के अन्य सकारात्मक पक्षों में यह भी रहा है कि हम नारी के प्रति एक आधुनिक दृष्टिकोण विकसित कर रहे हैं। अब उसे जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में देश में ही नहीं विदेशों में पहचान मिल रही है, चाहे वह इंद्रा न्यू हो या न्यूयार्क में टैक्सी ड्राइवरों की हड़ताल का नेतृत्व करने वाली एक महिला।

लेकिन इस वैश्वीकरण ने महिलाओं को मानवों से वस्तु में भी बदला है। वह विभिन्न कार्पोरेट हाउसों को मुनाफा दिलाने वाली विज्ञापनी मुस्कान बनती जा रही है।

इन सब बातों के बावजूद ऐसा बहुत कुछ है जो भारतीय संस्कृति को वैश्वीकरण से निपटने की शक्ति प्रदान करता है। इकबाल को भारत के नामोनिशान बाकी रहने पर यों ही गर्व नहीं था।

सांस्कृतिक प्रक्रियाएँ द्विपक्षीय होती हैं। हम बाहरी दुनिया से प्रभावित हुए हैं तो उसे प्रभावित भी करते रहे हैं। ब्रह्मगुप्त के ब्रह्मसिद्धांत से लेकर प्रसिद्ध एन.आर.आई. गणितज्ञ ई.सी.सी. सुदर्शन ने संपूर्ण विश्व की वैज्ञानिक मनश्चेतना को बदला है। वर्ष 2001 में ब्रिटेन के 10वीं कक्षा के छात्रों से बोर्ड परीक्षा में प्रश्न पूछा गया कि “ऐसी दो मिठाइयाँ या

**सब्जियों का नाम बताएँ जो भारतीय न हों।"**

पूरी दुनिया में करोड़ों भारतीय जन सांस्कृतिक राजदूत की तरह विद्यमान हैं। अपने मेलिंग पॉट (गलन पात्र) संस्कृति का दावा करने वाले अमेरिका में भारतीय चिकित्सा प्रणाली, योग, भोजन, वस्त्र एवं संगीत की धूम है। श्री श्री हो या पण्डित रविशंकर, दीपक चोपड़ा हो या प्रसिद्ध, अर्थशास्त्री जगदीश भगवती सब के सब अमेरिका में भारतीय जीवन मूल्यों के प्रतिनिधि हैं।

पिछले वर्ष संयुक्त राष्ट्र संघ के महासचिव पद के उम्मीदवार रहे शशिथरुर ने अपनी पुस्तक 'इंडिया: फ्राम मिडनाइट टू मिलेनियम' में लिखा है कि वे संयुक्त राष्ट्र संघ में काम करने के लिए इसलिए भी उपयुक्त हैं कि वह ऐसे देश के वासी हैं जिसकी मूल प्रकृति बहुलवादी है।

वास्तव में सभ्यताओं के संघर्ष के जिस युग की बात की जा रही है, उसका प्रत्युत्तर तो बहुलवाद है, सभ्यताओं का सम्मिलन (कन्वर्जेंस ऑफ सिविलाइजेशन) है। भारतीय संस्कृति इस अंतर्निर्भर विश्व को तो यह दे ही सकती हैं साथ ही साथ वे गाँधीवादी मूल्य जो आंगसान सूकी, नेल्सन मंडेला, डेसमंड टूटू, डॉ. मार्टिन लूथर किंग 'जूनियर' कोरेट्टा स्काट और रो जा पार्क्स के जीवन एवं कृत्यों में सजीव हो उठे हैं। पूरी दुनिया गरीबी से जूझ रही है, पर्यावरण पर खतरे मंडरा रहे हैं और आतंकवाद की स्याह छाया हमारे दिल में उतर जाना चाहती है, भारतीय मूल्य इसके प्रत्युत्तर एवं उपाय हैं।

चूँकि हमारे पूर्वजों ने अपने समक्ष आई चुनौतियों का सामना किया है, सांस्कृतिक अंतर्प्रवाहों में भारतीय संस्कृति का रूप संवारा है अतः उनके वारिस होने के नाते हम भी यह दावा कर सकते हैं, कि इस चुनौती का प्रत्युत्तर देने में हम कामयाब होंगे।

यह कामयाबी 21वीं शताब्दी के भारत की कामयाबी होगी जिसमें पश्चिम के ग्रहण करने योग्य मूल्यों के साथ हमारी अपनी परंपरा होगी। पानी चाहे कहीं का हो, रंग उसमें हमारा अपना होगा।

**इक्कीसवीं सदी में संस्कृति - एक विश्लेषण**

यदि इक्कीसवीं सदी के मनुष्य की खोज खबर ली गयी होती तो संस्कृति के प्रश्न को हल करना आसान था। यह मनुष्य नाम का प्राणी ही है जो संस्कृति को रूप देता रहा है और उसे नष्ट भी करता रहा है। संस्कृतियों के नष्ट होने के यद्यपि अन्य प्राकृतिक कारण भी रहे हैं, लेकिन मनुष्य ने ही अपने से प्रतिकूल संस्कृतियों के ध्वंस का बड़ा लम्बा इतिहास लिखा है। इस संघर्ष और विध्वंस में धर्म ने सबसे बड़ा योगदान किया है, लेकिन भारत की स्थिति कुछ भिन्न रही है। हमारी हड़प्पा संस्कृति क्यों नष्ट हो गयी, इसका कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता है। महाभारत का युद्ध भी उस अर्थ में धार्मिक युद्ध नहीं था जैसा यूरोप में ईसाई और इस्लाम में शताब्दियों तक लड़ा जाता रहा। यह एक प्रकार का धर्म-युद्ध था और जिनके साथ धर्म था, उनके पक्ष में सत्य और न्याय था। इस प्रकार यह दो धर्म या दो संस्कृतियों का युद्ध नहीं था, बल्कि दो भाइयों में सत्य और न्याय का युद्ध था। लेकिन यह भी सत्य है कि महाभारत के युद्ध के बाद उस काल की सांस्कृतिक उपलब्धियाँ भी नष्ट हो गयीं।

इक्कीसवीं सदी में संस्कृति के प्रश्न को हम अपने अतीत के इतिहास को समझे बिना ठीक प्रकार से समझ नहीं सकते। हमें यह देखना होगा कि जो संस्कृतियाँ हजारों वर्षों के कठिन परिश्रम और चिन्तन से बनी थीं, वे क्यों और कैसे नष्ट हो गयीं? वैज्ञानिकों का कहना है कि भयंकर प्राकृतिक विपदाएँ इसके मूल में थी जो निश्चय ही मनुष्य के वश में नहीं थी, लेकिन मनुष्य के हाथों नष्ट हुई संस्कृतियों तथा उसके द्वारा नष्ट-भ्रष्ट की गयी संस्कृतियों की मूल चेतना को समझना होगा। भारत में ही विदेशी आक्रमणकारियों ने तक्षशिला, नालन्दा जैसे विश्व विख्यात विश्वविद्यालयों तथा असंख्य मन्दिरों की अद्भुत देव-मूर्तियों को नष्ट करके हिन्दू संस्कृति को नष्ट करने का भयंकरतम अपराध किया। धर्म, संस्कृति, दर्शन, कला, साहित्य और ज्ञान की कितनी बड़ी उपलब्धियाँ नष्ट हो गयी इसकी कल्पना करना भी सम्भव नहीं है। विश्व के उन धर्मों ने जो स्वयं को एकमात्र ईश्वरीय धर्म मानते हैं तथा शेष विश्व को अपना जैसा बनाने के ईश्वरीय आदेश का पालन करते हैं, उन्होंने दूसरे धर्म और संस्कृति के ध्वंस का बड़ा लम्बा खूनी इतिहास लिखा है। आज इक्कीसवीं सदी के आरम्भ में यह धार्मिक श्रेष्ठता, धार्मिक उन्माद और अपने धर्म की प्रमुखता की स्थापना का अहंकार बड़ी तेजी से फैलता दिखायी देता है। ईसाई धर्म गुरु पोप पूरे विश्व को ईसाई बना देना चाहते हैं और बिन लादेन और पाकिस्तान के आतंकवादी जिहाद के रूप में धार्मिक युद्ध का उद्घोष कर रहे हैं। इक्कीसवीं सदी का यह सबसे विकट संकट है, क्योंकि दूसरे धर्मों में इसकी प्रतिक्रिया हो रही है और वे भी अपनी रक्षा के लिए कट्टरता का बाना पहन रहे हैं। इस सदी में यदि ईसाई, मुसलमान, हिन्दू, बौद्ध, यहूदी आदि समाजों और धर्मों ने परस्पर सहिष्णुता, समानता और सहयोग के साथ जीना नहीं सीखा तो मुझे कहना होगा कि इस पृथ्वी पर संस्कृति की चर्चा करने वाला कोई नहीं रहेगा। यदि तीसरा विश्व-युद्ध हुआ। जिसकी परिस्थितियाँ बनती नजर आ रही हैं तो वह उसमें अवश्य ही धर्म का योगदान होगा और वह मानवीय संस्कृति का सबसे क्रूरतम और बर्बर इतिहास होगा। अतः इक्कीसवीं सदी के मनुष्य के लिए यह परमावश्यक है कि वह अपने धार्मिक अतीत से स्वयं को मुक्त करे, अर्थात् उस अतीत से जिसमें दो धर्म की तलवारे एक-दूसरे का रक्त पी रही हैं और एक ऐसे मानवीय धर्म की सृष्टि करें जो सम्पूर्ण मानव-जाति के लिए कल्याणकारी और मान्य हो।

इस सदी में एक सर्वथा नया संकट पैदा हो गया है और वह यह है कि भूमंडलीकरण ने विश्व को एक गाँव में बदलना शुरू कर दिया है। यह व्यापारिक भाषा में ऐसा उदात्तीकरण है, ऐसी उन्मुक्त बाजार संस्कृति है जो विश्व को एक इकाई बना रही है। मनुष्य की संस्कृति है जो विश्व को एक इकाई बना रहा है। मनुष्य की संस्कृति के लिए यह एकदम नया अनुभव है। यह अनेक देशों की प्राचीन और नवीन दोनों ही संस्कृतियों के अस्तित्व के लिए भयंकर संकट है। भारत में



स्वदेशी व्यापार और स्वदेशी संस्कृति की रक्षा का आन्दोलन शुरू हो गया है जो गांधी के स्वदेशी आन्दोलन जैसा शक्तिशाली तो नहीं है परन्तु संकट उससे बड़ा है। भारत सरकार ने विदेशी व्यापारियों और पूंजीपतियों के लिए अपने दरवाजे खोल दिये हैं और अब तेजी से अमरीकन, चीनी, जापानी, कोरियन वस्तुएं भारी मात्रा में देश में आ रही हैं और साथ में अपनी संस्कृति भी ला रही है। अब स्थिति यह है कि दिल्ली में फ्रांस की पानी की बोतल 150 रुपये में तथा जापान का सेब 500 रुपये किलो में बिक रहा है तो और अब रूसी वैश्याएं इटली, भारत आदि देशों में आकर यौन व्यापार कर रही हैं और भारत से भोली-भाली लड़कियों को नौकरी के लालच में मुस्लिम देशों में ले जाकर वेश्यावृत्ति करायी जा रही है। इस नयी उपभोक्तावादी बाजारू संस्कृति को हमें विश्व की दृष्टि से नहीं अपनी दृष्टि से देखना होगा। हमें यह मालूम हैं कि इस नयी भूमंडली संस्कृति ने अमेरिका तथा यूरोप के देशों का कितना सांस्कृतिक रूप से हित किया है और अब भारत जैसे देशों पर इसका आक्रमण हो रहा है। हमारे कुछ बुद्धिजीवी कह रहे हैं कि भारत को इस बाजारवादी संस्कृति के सम्मुख आत्मसमर्पण करना होगा। बाहरी शक्तियाँ ही नहीं आन्तरिक शक्तियाँ भी अपना दबाव बना रही हैं और जनता असमंजस की स्थिति में है। भारत ही नहीं वे सारे देश जिन्हें अपनी अस्मिता और संस्कृति प्यारी है तथा जिनके पास हजारों वर्षों की सांस्कृतिक परम्पराएँ हैं, वे इस भूमंडलीकरण से आशंकित तो हैं, परन्तु भारत की सनातन हिन्दू संस्कृति जैसे पहले के बर्बर और क्रूर धार्मिक आक्रमणों से अपनी रक्षा कर सकी है, मुझे विश्वास है कि इक्कीसवीं सदी में वह अपने मूल स्वरूप को बचाकर रख सकेगी। अमेरिका इंग्लैण्ड आदि देशों में जहाँ से बाजारवादी संस्कृति आ रही है, वहाँ भी भारतीयों ने अपनी संस्कृति को जीवित रखा है। डॉ. भूदेव शर्मा ने तो अमेरिका में एक हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना कर दी है। वैदिक तथा सरस्वती संस्कृति, गोस्वामी तुलसीदास जैसे सांस्कृतिक विषयों पर अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन किये हैं। मॉरिशस, फिजी जैसे देशों में स्थिति कुछ बेहतर है। भारत में चाहे न हो, मॉरिशस में हजारों छात्रों को प्रति वर्ष हिन्दूधर्म एक विषय के रूप में पढ़ाया जाता है। अतः यह मेरा दृढ़ विश्वास है कि हिंसा, अपराध, सैक्स और उपभोक्ता संस्कृति की बुराइयों के प्रभाव के बावजूद, दूरदर्शन पर नग्न चित्रों के प्रदर्शन के बावजूद भारत की सांस्कृतिक भारतीयता अक्षुण्ण बनी रहेगी। भारत और भारत से बाहर भारतीयों का एक ऐसा विशाल समूह सदैव जीवित रहेगा जो भारतीय संस्कृति को सनातन बनाये रखने के लिए संकल्पवान रहेगा और उसे गतिशील बनाये रखेगा।

इक्कीसवीं सदी में मनुष्य और प्रकृति के सम्बन्धों की ऐसी कहानी लिखी जायेगी जो पहले कभी नहीं लिखी गयी है। यह कहानी प्रकृति के विध्वंस की कहानी होगी जो मनुष्य के कुकृत्यों का प्रतिफल होगी। हमारे ऋषि-मुनियों ने प्रकृति के साथ रहना सीखा था। उनके लिए प्रकृति जीवनदायिनी थी और सभी शक्तियों की स्रोत थी। हमारे पूर्वजों ने प्राकृतिक शक्तियों को पूजनीय बना दिया था, क्योंकि वे इस सत्य को पहचान गये थे कि प्रकृति ने ही जीव को उत्पन्न किया है और वही संरक्षण करती है, लेकिन वह यदि कुपित हुई तो सब कुछ नष्ट कर सकती है। इसके विपरीत पश्चिम की औद्योगिक तथा उपभोक्तावादी संस्कृति इस अहंकार को लेकर चली है कि वह प्राकृतिक शक्तियों को जीत कर जैसा चाहे उनका उपयोग कर सकती है। इसके परिणाम स्वरूप आकाश, वायु, जल, पृथ्वी वनस्पतियाँ, सब कुछ प्रदूषित हो रहा है और ओजोन छतरी का ही हृदय घायल नहीं हुआ है, बल्कि पृथ्वी के तापमान में बढ़ोतरी हो रही है और ध्रुवों में करोड़ों वर्षों से जमी बर्फ पिघलनी शुरू हो गयी है। पृथ्वी का जब से जन्म हुआ है, असंख्य प्राकृतिक विपदाओं के प्रहार उसने सहन किये हैं, लेकिन वे सभी प्रकृति की अपनी उथल-पुथल और हलचलों के परिणाम थे, लेकिन इक्कीसवीं सदी में प्रकृति के असीमित और अनियन्त्रित शोषण और प्रदूषण के मानवीय अपराध की प्रतिक्रिया स्वरूप भयंकर विपदाओं का संकट आना ही है। प्रकृति की करोड़ों वर्षों की रचना और जलवायु को मनुष्य ने सौ-दो सौ वर्षों में ही बदलने का जो अपराध किया है, उसे प्रकृति क्षमा नहीं करेगा। अतः इक्कीसवीं सदी की संस्कृति का सत्य और उसका स्वरूप प्रकृति के इस प्रतिशोधात्मक व्यवहार पर भी निर्भर करेगा। प्रकृति अपनी जीवनदायिनी शक्ति को नष्ट-भ्रष्ट करने के लिए मनुष्य की इस नयी संस्कृति को नष्ट करेगी अथवा अनन्तकाल तक वह मनुष्य के दिये विष को पीती रहेगी, यह तो भविष्य बतायेगा, लेकिन विभिन्न दुष्परिणामों के रूप में प्रकृति जो संकेत दे रही है इनसे स्पष्ट है कि इक्कीसवीं सदी में ही मनुष्य यह देख लेगा कि वह प्रकृति के क्रोध से अपनी रक्षा नहीं कर पायेगा।

इक्कीसवीं सदी में मनुष्य और उसकी संस्कृति अनेक संकटों से घिरी रहेगी। प्रकृति को वह अपना शत्रु बना ही रहा है और साथ ही वह स्वयं अपना ही सबसे बड़ा शत्रु बन रहा है। उसने अपने नाश के ऐसे हथियार बना लिए हैं कि उनके उपयोग पर हजारों वर्षों तक पृथ्वी बंजर हो जायेगी। हेरोशिमा और नागासाकी से वह कुछ भी सीखने को तैयार नहीं है। जनसंख्या विस्फोट भी ऐसी ही घातक समस्या है। एशिया के देशों में जनसंख्या का जो विस्फोट हो रहा है, उससे सभी उपलब्धियाँ निरर्थक हो रही हैं। इक्कीसवीं सदी के अन्त तक भारत की जनसंख्या लगभग तीन सौ करोड़ हो जायेगी। ऐसी स्थिति में हम किस संस्कृति की भविष्यवाणी कर सकते हैं? तब केवल जीवित रहने की ही संस्कृति होगी। रोटी के लिए किसी भी प्रकार की हिंसा उचित मान ली जायेगी। हमें यह स्थिति अब भी दिखायी दे रही है। भारत की बहुसंख्यक जनता गरीब और अशिक्षित है तथा अनेक जातियों को हजारों वर्षों से दमन और शोषण के बीच जिन्दा रहना पड़ा है। इक्कीसवीं सदी का भविष्य इन्ही दलित और शोषितों की शक्ति और सामर्थ्य पर निर्भर करेगा। भारत को निश्चय ही, इस नयी सदी में भेदभावपूर्ण, समताविरोधी संस्कृति का बहिष्कार करना होगा। भारत आज एक शक्ति के रूप में उभर रहा है और इसकी पूरी सम्भावना दिखायी देती है कि वह इक्कीसवीं सदी की विश्व-संस्कृति में अपना महत्वपूर्ण योगदान करेगा।

बीसवीं सदी के अन्तिम समय में सम्पूर्ण विश्व को एक गाँव बनाने और समझने में विशेष महत्व रखता है। इस विचार से विश्व के बीच एक मानव-धर्म और संस्कृति को रूप दिया जा सकता है। इसके लिए सबसे पहले उन धर्मों को यह आग्रह छोड़ना पड़ेगा कि वे ईश्वर के आदेश पर अज्ञानी और भटके मनुष्यों एवं समाजों को उनका उद्धार करने के लिए उन्हें अपने धर्म में मिला रहे हैं। अपने धर्म की श्रेष्ठता तथा एकमात्र ईश्वरीय धर्म होने का यह अहंकार विश्व मानवधर्म के लिए त्यागना पड़ेगा। विश्व के सभी धर्म अपने-अपने क्षेत्रों में क्रियाशील रहें, इसमें किसी को क्या आपत्ति हो सकती है, परन्तु दूसरे धर्मों को निकृष्ट तथा अपने धर्म को सर्वोपरि मानने के अहंकार ने अतीत में लाखों व्यक्तियों की बलि ली है। अतः इक्कीसवीं सदी में यह अहंकार फिर रक्तपान न करे, इसके लिए सभी धर्मों और देशों को एक स्थान पर बैठकर विश्व के लिए एक मानव-धर्म की सृष्टि करनी पड़ेगी। इसका आधार यही हो सकता है कि मैं अपने धर्म का पालन करते हुए अन्य धर्मों के श्रेष्ठ मानवीय गुणों और आदेशों को स्वीकार कर लूँ तथा यह मानूँ कि मेरे धर्म के समान अन्य धर्म भी ईश्वरीय धर्म हैं और उनके देवी-देवता भी ईश्वर के ही भेजे हुए हैं। पृथ्वी पर एक धर्म, एक संस्कृति, एक भाषा और एक विचार की स्थापना असम्भव है। ईश्वर की यह सृष्टि इन्द्रधनुषीय है, रंग-बिरंगी, विभिन्नता और अनेकता के साथ कितनी सुन्दर लगती है। धर्म और संस्कृति की अनेकता और बहुलता भी पृथ्वी के सौन्दर्य को निर्मित करती है। अतः इक्कीसवीं सदी की संस्कृति भी बहुरूपनी और बहुलतावादी ही होगी, लेकिन किसी धर्म या विचार ने इसके बहुरूप को नष्ट करके विश्व में एक संस्कृति और धर्म की स्थापना का प्रयत्न किया तो महायुद्ध को रोकना असम्भव होगा। धर्म और संस्कृति के वैश्वीकरण में एकरूपता असम्भव है। अतः इक्कीसवीं सदी में यदि मनुष्य को अपनी संस्कृतियों के साथ जीवित रहना है तो निज-धर्म एवं संस्कृति के साथ उसे अन्य धर्मों और संस्कृतियों के साथ जीवित रहना सीखना होगा। हम इसी मनोभावनाओं के साथ इक्कीसवीं सदी की संस्कृति को एक मानव-संस्कृति के रूप में बदलने का प्रयास कर सकते हैं। इक्कीसवीं सदी के लिए विश्व-संस्कृति का कोई और विकल्प नहीं है।

### सभ्यता और संस्कृति

सभ्यता और संस्कृति मानव-समाज द्वारा निर्मित दो महानतम संरचनाएँ हैं, जिन्होंने मानव की विकास यात्रा को काफी हद तक प्रभावित किया है। सभ्यता एवं संस्कृति के परस्पर संबंधों का निर्धारण किस प्रकार किया जाए यह चिंतकों एवं बुद्धिजीवियों के लिए चिन्ता का विषय है। क्या सभ्यता का विकास संस्कृति को प्रभावित करता है या सांस्कृतिक विकास सभ्यता को प्रभावित करता है। यदि परस्पर प्रभावित होते हैं तो किस प्रकार? क्या परस्पर पूरक है या घोर विरोधी चित्तवीय विषय है। इन प्रश्नों के वस्तुनिष्ठ जवाब शायद आज तक नहीं मिल पाए हैं।

सभ्यता एवं संस्कृति के संबंधों की पड़ताल करने के पूर्व यह आवश्यक हो जाता है कि इन दोनों की मुकम्मल तस्वीर पहले स्पष्ट की जाए। विभिन्न दृष्टियों से इस अर्थ का निर्धारण किया जाता है। इतिहासकारों का मानना है कि उन अवस्थाओं को सभ्यता कहा जाता है जहाँ लिपि एवं नगरीकरण का विकास हुआ हो तथा शेष को संस्कृति यही कारण है कि सिन्धुघाटी सभ्यता कहलाती है। जबकि पूर्व वैदिक काल संस्कृति के नाम से जाना जाता है पुनः जनसाधारण की भाषा में विश्लेषण करें तो सभ्यता एवं संस्कृति सामाजिक विकास के दो स्तर नजर आते हैं। सभ्यता वह बुनियादी स्तर है जिस तक पहुँचकर व्यक्ति समाज का सदस्य बन जाता है और जिससे विचलित होकर वह मानव समाज से कह जाता है, दूसरी ओर संस्कृति उसके परिष्करण की प्रक्रिया है दूसरे शब्दों में कहें तो सभ्य होना सामाजिक होने की शर्त है तथा सुसंस्कृत होना एक काम्य या वांछनीय स्थिति जिसकी व्यक्ति से आशा की जाती है।

वस्तुतः सभ्यता एवं संस्कृति के घबराहट की चर्चा जिस प्रसंग में होती है उसका संबंध उपरोक्त दोनों से अलग है। मनुष्य जिस पर्यावरण में रहता है, उसके तीन अंग हैं। प्राकृतिक भौतिक तथा अभौतिक। प्राकृतिक पर्यावरण तो मनुष्य को ईश्वर या प्रकृति ने ही दिया है। जो सिर्फ एक विरासत के रूप में है, शेष दो हिस्से मनुष्य ने खुद अपने हाथों से बनाए हैं। मनुष्य ने जितनी भौतिक संरचनाएँ खड़ी की है— जैसे— भवन, बांध, सड़कें, मशीनें इत्यादि वे सब उसकी सभ्यता के अंग हैं। दूसरी ओर अभौतिक, मानसिक या वैचारिक संरचनाओं का जितना समूह मनुष्य ने निर्मित किया है वह समग्रता में संस्कृति कहलाता है। उदाहरण के लिए हमारी भाषा, धर्म, परम्पराएँ, कानून, साहित्य कलाएँ, नैतिक मूल्य, संस्कार इत्यादि। एक शब्द में कहें तो सभ्यता वह है जो हमारे पास है और संस्कृति वह है जो इसमें है। उनके सूक्ष्म अंतर को स्पष्ट करने के लिए फूल एवं फूलों की सुगंध का उदाहरण दे सकते हैं—फूल सभ्यता का वाह्य आवरण है एवं सुगंध उसकी संस्कृति। इसी परिप्रेक्ष्य में यह विचार किया जा सकता है कि इन दोनों के संबंध मैत्री के है या टकराहट के।

### सभ्यता का संस्कृति पर प्रभाव

सभ्यता के उत्थान एवं पतन का प्रभाव सांस्कृतिक चेतना पर पड़ना स्वाभाविक है, क्योंकि सभ्यता एवं संस्कृति का संबंध एक फूल एवं उसकी खुशबू की तरह माना जा सकता है। खिले हुए पुष्प की खुशबू एवं मुरझाए पुष्प की खुशबू में अंतर होना स्वाभाविक है। सिन्धुघाटी सभ्यता की नगरीकृत शैली का प्रभाव उस सभ्यता के नागरिकों की जीवन-शैली में घुला-मिला था, इतिहासकारों के अन्वेषणों से इस बात की पुष्टि हुई है।

परिवहन एवं संचार के साधनों के तीव्र विकास ने भी आमूल-चूल परिवर्तन किए हैं। जब परिवहन के साधनों का प्रायः अभाव था एवं बैलगाड़ी ही एकमात्र आवागमन का साधन थी तब प्रायः विवाह समीपस्थ गाँवों एवं नगरों में ही हो जाते थे एवं वैवाहिक संस्कार भी लंबे समय तक समपन्न होते रहते थे, किन्तु वर्तमान विशालयुग में आवागमन के त्वरित साधनों का विकास हुआ है एवं विश्व भूमण्डलीकृत हो गया है। वर्तमान के भूमण्डलीकृत युग में पूर्व वैवाहिक संस्कृति में काफी



परिवर्तन हुआ है एवं शादी-विवाह विश्व-स्तर पर होने लगे एवं समय की बचत की दृष्टि से उनमें गुणात्मक परिवर्तन भी आए हैं।

परिवहन के साधनों के त्वरित विकास से न केवल गति के अंतराल में फर्क आया है, बल्कि जीवन की गति भी परिवर्तित हो गयी। यद्यपि इनसे पारंपरिक उत्सवों में तो कमी नजर आ रही है, किंतु बौद्धिक काल से ही उक्ति के रूप में कही जाने वाली 'वसुधैव कुटुम्बक' की अवधारणा अब चरितार्थ होती दिखाई दे रही है। अब न सिर्फ देशों की सीमाएँ टूटी हैं, बल्कि मानव का व्यक्तित्व ही वैश्वीकृत हो गया। आज विदेशी मूल्य स्वदेश में एवं स्वदेशी मूल्य विदेशों में सहजता से पहुँच रहे हैं, जिससे नैतिक मूल्यों में साम्य दिखाई दे रहा है साथ ही राष्ट्रवाद के स्थान पर अंतर्राष्ट्रवाद की अवधारणा स्पष्ट दिखाई दे रहा है।

कतिपय भौतिकवादी विचारक जैसे- कार्ल-मार्क्स, डार्विन, एम. एन. रॉय, नेहरू इत्यादि ने स्वीकार्य किया है कि सभ्यता के उत्थान-पतन का प्रभाव सांस्कृतिक मूल्यों पर दृष्टिगोचर होता है। मार्क्सवाद की अवधारणा पूँजीवाद के खिलाफ है, वस्तुतः भौतिकवादी पूँजीवादी ने ही मानवीय मूल्यों को झकझोरा है एवं क्रांति को आवाहन करने के लिए बाध्य किया है। इस तरह भौतिकवादी सभ्यता ने मार्क्सवादी संस्कृति को जन्म दिया, जिसका प्रभाव कालांतर में नेहरू एवं एम.एन. रॉय जैसे समाजवादी चिन्तकों पर दिखाई देता है और नेहरू के समाजवादी चिन्तन का प्रभाव तो हम भारतीय संविधान पर भी देख सकते हैं। वाह्य परिस्थितियों के अनुरूप व्यक्ति जीवित रहने के लिए जीवन संघर्ष करता है, उसकी यह जिजीविषा एवं संघर्ष करने की क्षमता परिस्थितियाँ निर्धारित करती हैं, डार्विन के विकासवाद का मूल कर्तव्य भी सामान्यतः यही है अर्थात् सभ्यता के आवरण से ही संघर्ष जैसे आंतरिक मूल्यों की संस्कृति का विकास होता है।

विज्ञान और तकनीकी के विकास ने संचार के साधनों में तिब्रतम इजाफा किया है और हम वर्तमान में संचार क्रांति के युग में जी रहे हैं। पहले संदेश-संवहन का कार्य दूत परंपरा के माध्यम से होता था, उसके बाद कबूतर जैसे-पक्षियों का उपयोग संदेश-संवहन के लिए किया, लिपि के अविष्कार के साथ पत्र-परंपरा का विकास हुआ एवं डाकिया पत्र-संवहन का कार्य करने लगे, किन्तु संदेश संवहन के इस विकास के साथ सांस्कृतिक परिवर्तन भी तीव्र गति से हुआ है। हालांकि डाकिया पत्र-संवहन का कार्य आज भी करता है, किन्तु आज की संचार क्रांति के युग में जहाँ मोबाइल, इंटरनेट व ई-मेल जैसे संचार साधन उपलब्ध हैं, डाकिया गांव की 'सांस्कृतिक खिड़की' नहीं रह गया है तथा अब तो पत्र-व्यवहार की व्यवहारिक महत्ता काफी कम हो गयी है।

संचार साधनों के विस्फोट ने हमारी संस्कृति को सकारात्मक एवं नकारात्मक दोनों ही प्रकार से प्रभावित किया है। संचार के साधनों के विकास से संचार के समय में बचत की है, पत्र-लेखन एवं पठन-पाठन की समस्या से छुटकारा मिला है। पत्र-व्यवहार के युग में तो कई निरस्तर व्यक्ति अपने मनोभावों को वांछित व्यक्ति तक भेज भी नहीं पाते थे, क्योंकि पत्र लेखक एवं पत्र चालक दोनों ही उसके मूल-संदेश को तोड़ने-मरोड़ने का कार्य करते थे और ऐसा प्रतीत होता था जैसे संदेश की मूल आत्मा मर सी गयी हो।

संचार क्रांति के तीव्र विकास से वैश्विक सम्पर्कों में वृद्धि हुई है, जिससे सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था भूमण्डलीकृत हो गयी एवं ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में भी तीव्र विकास हुआ है। सूचना-संजाल की वृद्धि ने प्रशासनिक कार्यकुशलता में भी वृद्धि की है, इससे विविध प्रशासनिक इकाइयों के मध्य समन्वय आसानी से स्थापित किया जा सकता है, एवं वरिष्ठ कार्यालय, अधीनस्थ कार्यालयों से सम्पर्क साधकर नियंत्रण स्थापित कर सकता है। वर्तमान में संचार के साधनों के विकास ने प्रशासनिक संस्कृति की तो कायाकल्प ही कर दी है। 'समाधान ऑन लाइन' के माध्यम से शिकायतों का निराकरण एवं 'टू-कान्फ्रेंस' के माध्यम से सीधी वार्ता प्रशासनिक कार्यकुशलता में वृद्धि कर रही है तथा वर्तमान प्रशासन की संस्कृति ही 'इ-गवर्नेंस' हो गयी है। व्यापारिक विकास में विविध 'वेबसाइटों' ने व्यापार की प्रकृति ही परिवर्तित कर दी है। आज हम घर बैठे वैश्विक स्तर पर व्यापार कर सकते हैं, रोजगार प्राप्त कर सकते हैं, पर्याप्त मनोरंजन कर सकते हैं एवं कम खर्चे पर ही पठन-पाठन की सुविधाएं प्राप्त कर सकते हैं।

किन्तु सिक्के का दूसरा पहलू भी है संचार के साधनों ने जहाँ एक ओर तीव्रतम सांस्कृतिक उत्थान किया है, वैश्विक संस्कृति का संगम किया है तो वहीं हमारी संस्कृति के दूसरे पहलू का क्षरण भी हुआ है। वर्तमान में हम विविध फिल्मों की धुन में पारस्परिक नाट्य मंचन जैसी विधाओं को भूलते जा रहे हैं। पॉप-संगीत में मग्न होकर हम हमारे लोकगीतों की तिलांजलि देते जा रहे हैं। वर्तमान में विज्ञान ने इतना अधिक विकास कर लिया है कि व्यक्ति की मौलिकता समाप्त होती जा रही है। मनोरंजन के अत्याधुनिक संसाधनों ने 'कवि गोष्ठियों' एवं काव्य सृजन जैसे सृजनात्मक पक्षों को अनदेखा किया है, जिससे मानव की सृजनात्मकता का क्षरण हुआ है।

संचार क्रांति के तीव्रतम विकास का मानवीय संस्कृति पर एक दुष्प्रभाव यह पड़ा है कि लगातार मोबाइल जैसे संचार साधनों के कारण सम्पर्क में रहने से व्यक्ति का निजी चिंतन एवं आत्मावलोकन जैसी प्रवृत्तियों का क्षरण होता जा रहा है।

*"जहाँ में उसने बड़ी बात कर ली।*

*जिसने खुद से मुलाकात कर ली।"*

आत्ममंथन न होने की वजह से व्यक्ति में आत्मनिर्वासन (एलियेशन) जैसी स्थिति उत्पन्न होने लगी है साथ ही संचार के साधनों के विकास ने संबंधों में भी स्थूलता पैदा कर दी। अब वर्षों बाद मिले पुनः से मिलकर वह वात्सल्य नहीं झलकता जो मोबाइल क्रांति के पूर्व झलकता था, क्योंकि लगातार मोबाइल से संपर्क में रहने के कारण अलगाव से उत्पन्न स्नेह की पराकाष्ठा उनमें नहीं देखी जा सकती।

मोबाइल क्रांति ने यौन-व्याभिचार जैसी समस्याओं को भी उत्पन्न किया है। 'ब्लू-टूथ' (Blue Tooth) के माध्यम से यौन चेतनाओं का विकृतीकरण हो रहा है। मोबाइलों पर आने वाले गुप्त संदेशों (SMS) ने जहाँ कई वांछित प्रेमी-प्रमिकाओं को जीवन-सूत्र में बाँधने का सराहनीय कार्य किया है, तो वहीं कई नवदम्पतियों के जीवन-सूत्र को विखंडित भी किया है। इंटरनेट के माध्यम से पनपते 'साइबर-क्राइम' हमारी संस्कृति का अंग से बन गए हैं। इंटरनेट पर होने वाले चैटिंग ने हमारी संस्कृति का अपसंस्कृतीकरण ही किया है।

भौतिक सभ्यता के विकास ने संस्कृति में काफी हद तक परिवर्तन किया है। यूरोपीय विचारक एन. गोखले का मानना है कि 'वाशिंग मशीन' के आविष्कार ने नारी आन्दोलन को जन्म दिया है। एन. गोखले ने सर्वेक्षण में पाया कि नारियाँ भले ही घरेलू कार्य करती हैं, पर यह घरेलू कार्य पुरुषों के बाहरी कार्य से हरगिज कम नहीं होता।

उन्होंने सर्वेक्षण में पाया कि पुरुष सप्ताह में 40 एवं महिलाएं 77 औषट घंटे काम करती हैं। वाशिंग मशीन, मिक्सर, एल.पी.जी., गैस इत्यादि के कारण महिलाओं को घरेलू कार्य से समय बचत हुई और उनका चिन्तन आरंभ हुआ फलतः नारी आंदोलन की शुरुआत हुई और आज उसी नारी ने धरती से लेकर गगन तक सफलता का परचम लहरा दिया है। महिलाओं की इस संस्कृति का विकास भौतिक सभ्यता के उत्थान के कारण ही संभव हुआ है। स्मिथ फाइर स्टोन ने शोध किया है कि 'गर्भ-निरोधकों' के विकास ने महिलाओं की सामाजिक स्थिति को सुधारने में काफी योगदान दिया है, इसका कारण यह है कि विविध गर्भनिरोधकों के विकास ने महिलाओं को स्वेच्छा से माँ बनने की आजादी दी है एवं उस समय का उपयोग वे अपने निजी जीवन के चिन्तन एवं विकास के लिए कर सकती हैं तथा बाल-विवाह के दुष्परिणामों से बच सकती हैं।

वस्तुतः संस्कृति के कई तत्वों की समाप्ति उन्नत सभ्यता के विकास के कारण ही हो सकी। यदि मशीनीकरण का कृषि क्षेत्र में तीव्र विकास न होता तो कृषि कार्य हेतु पशुओं (बैलों) को जोतने का जो प्रतिशत तीव्रता से कम हुआ है, वह न होता एवं दास प्रथा का उन्मूलन भी संभव नहीं था। मशीनों ने मानव एवं पशुश्रम का स्थान ले लिया फलतः व्यक्ति का पशुओं के प्रति वास्तविकता एवं मानव के प्रति मानवता का भाव समाप्त हो गया। आदिम मानव का मांस-भक्षण, शनैः-शनैः, अन्न, अग्नि एवं रोटी के विकास के बाद ही कम हो सका। वस्तुतः दुनियाँ से मांस-भक्षण की संस्कृति उस दिन समाप्त हो जाएगी जब प्रत्येक पेट के लिए रोटी मयस्सर हो जायेगी जो कि उन्नत कृषि विकास एवं तीव्र औद्योगिक विकास पर निर्भर है। समाजवादी चिंतक एवं मशीनीकरण के प्रबल समर्थक नेहरू ने इन्हीं सब कारणों को दृष्टिगत रखते हुए ही कहा था कि- "उद्योग हमारे मंदिर है।"

### संस्कृति का सभ्यता पर प्रभाव

बाह्य का आवरण मानसिक चिन्तन का ही चरम बिन्दु है। मानसिक स्तर पर उठी अहा-पोह धीरे-धीरे व्यवहार में परिणित हो जाती है एवं वही व्यावहारिक परिणति सभ्यता का रूप धारण कर लेती है। जेम्स वाट एवं जार्ज स्टीफेन्सन ने उफनते जल में भाप की शक्ति को पहचाना एवं पहला भापजनित रेल इंजन का निर्माण कर दिया, जो वर्तमान सभ्यता का एक अनिवार्य अंग है। भारतीय स्वाधीनता आंदोलन के दौरान जो महापरिवर्तन हुआ वह मानसिक चिंतन मनन का ही व्यावहारिक परिणाम था। जब तक भारतीय जनमानस ने 'स्वतंत्रता' के मूल्य को नहीं पहचाना तब तक परतंत्रता की बेड़ियों में जकड़े रहे एवं जिस दिन 'स्वतंत्रता' के मूल्य को संस्कृति का महती अंग स्वीकार कर लिया उस दिन मानसिक एवं व्यावहारिक स्तर पर महाविप्लव हुआ और हम आजाद हो गए। 1917 को रूसी क्रांति भी तो एक वैचारिक क्रांति थी, जिसको व्यावहारिक अमलीजामा पहनाते ही सभ्यता का कलेवर ही बदल गया।

धर्म संस्कृति का अभिन्न अंग है और विविध धर्मों के अनुरूप जनमानस की चेतना में परिवर्तन होता है और सभ्यता का ताना-बाना उसी के अनुरूप बुनने लगता है। मार्क्स ने तो धर्म को 'अफीम' की संज्ञा तक दी है तथा कहा है कि धर्म मनुष्य में वे सभी गुण पैदा करता है जो एक कुत्ते में होते हैं। वस्तुतः मार्क्स का उद्देश्य हिंसक क्रांति के माध्यम से साम्यवादी समाज के निर्माण का था, किन्तु धर्मभीक लोग उनकी इस हिंसक क्रांति में शामिल न हो सके अतः ऐसे धर्मभीरुओं को ही मार्क्स ने कुत्ते की संज्ञा दी है, ऐसा कुत्ता जो अपने मालिक के सामने दुम हिलाता फिरता है। बात भी ठीक है। जब व्यक्ति मंदिर जाकर 'दैव-दैव' पुकारता है तो वह अपना पुरुषार्थ भूलकर भाग्य भरोसे बैठ जाता है और यथा लाभ संतोष के सिद्धांत को जीवन में स्वीकार कर लेता है।

ईसाई धर्म के कैथोलिक समुदाय में ऐसी मान्यताएँ नहीं थी, जिनसे पूँजीवाद का विकास हो सके। कैथोलिक समुदाय ईश्वर को ज्यादा समय देने के लिए प्रेरित करता है तथा कार्य को एक आवश्यक बुराई की तरह स्वीकार करता है, इसके विपरीत प्रोटेस्टेन्ट समुदाय 'कार्य ही पूजा है' (Work is Worship) सिद्धांत में विश्वास करता है। यही कारण है कि प्रोटेस्टेन्ट धर्म के अनुयायी संपन्न हैं एवं पूँजीवादी सभ्यता के विकास में उनका अहम योगदान है। मेक्स केलर ने इसे एक सांस्कृतिक प्रक्रिया के रूप में ही स्वीकारा है।

भारत सहित अन्य पूर्वी एशियाई देशों के अधिकांश धर्मों की मान्यता आध्यात्मवाद सर्वधर्मसमभाव, यथालाभ संतोष, पुर्नजन्म जैसी विचारधाराओं पर अवस्थित है, यही कारण है कि भारत जैसे अन्य पिछड़े हुए राष्ट्रों वर्षों तक विदेशियों की संस्कृति झेलते हुए आज भी पाश्चात्य राष्ट्रों से आर्थिक दृष्टि से अपेक्षाकृत पिछड़े हुए हैं।

संस्कृति का प्रभाव सभ्यता के वास्तविक ताम-झाम पर ही नहीं, बल्कि प्रकृति जैसे तत्व भी उससे अछूते नहीं रह सके। पाश्चात्य धर्मों यथा ईसाई, यहूदी इत्यादि ईश्वर एवं प्रकृति को पृथक-पृथक मानते हैं एवं प्रकृति को मानवीय आपूर्तियों का साधन भाग मानते हैं। उनकी इन मानववादी संकल्पना (एन्थ्रोपोसेन्ट्रलिज्म) ने प्रकृति का मानव उपयोग के लिए अतिशय दोहन किया एवं पर्यावरण संकट पैदा हो गया। जबकि पूर्व के धर्मों में ऐसी नहीं है, हिन्दुओं के वेदांत दर्शन में सम्पूर्ण प्रकृति को

ईश्वर का अंश माना गया है और प्रकृति से छेड़-छाड़ उनके दृष्टिकोण को अपराध बोध से भर देता है, फलतः प्रकृति संतुलन दिखाई देता है। भारतीय हिन्दू धर्म में तो कई वृक्षों को धर्म से जोड़कर पूजनीय बना दिया है, जैसे-पीपल, आंवला, बरगद, तुलसी इत्यादि।

तुलसी के पत्ते तोड़ने के लिए तो पवित्र भाव से पत्ते को छूना पर्यावरणीय संतुलन को बनाए रखने का एक साधन है वस्तुतः प्रकृति से अनावश्यक छेड़-छाड़ उचित नहीं है, गांधी जी ने भी कहा है कि **“प्रकृति सभी मनुष्यों की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति करती है, किन्तु लालच को नहीं।”** फिटग्रोड ने अपनी पुस्तक **‘द लाओ ऑफ फिजिक्स’** में पर्यावरणीय संतुलन के लिए जिस **‘ताओं’** धर्म की व्याख्या की है वह पूर्वी धर्मों की मान्यताओं से मेल खाती है।

प्रसिद्ध साहित्यकार सलमान रूसदी का मानना है कि अगर रेनेसा वाली घटना इटली के बजाए बगदाद में होती तो बगदाद एवं उसके आस-पास विज्ञान एवं तकनीकी का पर्याप्त विकास होता एवं पश्चिम के लोग ईराकी-ईरानी पठानों की तरह तोप-गोले लेकर ईराक-ईरान की बहुमंजिला इमारतों को तोड़ रहे होते। अर्थात् सांस्कृतिक परिवर्तन की एक सामान्य सी घटना ने सम्पूर्ण विश्व की तस्वीर ही बदल दी। भारत में भी यदि राजाराममोहन राय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर जैसे समाज सुधारकों ने महिलाओं की सामाजिक स्वतंत्रता के लिए उन्नत सदी में अथक प्रयास न किए होते तो आज के सांस्कृतिक दौर को हम नहीं देख पाते जहाँ **‘होमो सेक्सुअलटीज’** गे कल्चर को लिव इन’ जैसी पाश्चात्य संस्कृति को भी चुपके से स्वीकृति नहीं दी जा रही है।

जिस समान में अभिव्यक्ति की स्वाधीनता जितनी अधिक होगी उस समाज का भौतिक विकास भी उतना ही अधिक होता है। प्राचीनकाल के वैदिकयुग जैसे स्वर्णिम समय को छोड़कर भारतीय समाज ने नारियों को अधिकांशतः घर की चारदीवारी में ही कैद करके रखा था, जिसका परिणाम यह हुआ कि समाज के एवं अनिवार्य घटक का योगदान सामाजिक उत्थान में नहीं मिल सका और समाज अपेक्षाकृत भौतिक दृष्टि से पिछड़ गया। दूसरी ओर नारी के कुष्ठाग्रस्त जीवन ने कभी आत्महत्या तो कभी आत्म निर्वासित को स्वीकार कर जीवन से हाथ धो लिया या फिर घिस-घिस कर यूँ ही जिंदगी काट दी। जे. एस. मिल ने भी इस बात की पुष्टि की है कि किसी भी व्यक्ति की मौलिकता का दमन समाज के लिए द्यातक सिद्ध होता है। इस्लाम धर्म में अभिव्यक्ति की पूर्व स्वाधीनता न होने का परिणाम हम उस रूप से समाज की शिक्षा-दीक्षा एवं भौतिक सभ्यता पर स्पष्ट रूप से देख सकते हैं।

### क्या सभ्यता के विकास से संस्कृति का पतन होता है

यदि निरपेक्ष रूप से यह मत स्थापित किया जाए कि सभ्यता के विकास से संस्कृति का पतन हो जाता है सर्वथा अनुचित है, क्योंकि **‘अपसंस्कृति’** एक सापेक्षिक शब्द है। सिन्धुघाटी सभ्यता की कतिपय सांस्कृतिक विशेषताओं को वैदिक संस्कृति ने आलोपित किया तो यह वैदिक संस्कृति का क्षरण नहीं माना जाएगा। भारतीय संस्कृति की प्रकृति तो आत्मसातीकरण की है, अतः विविध विदेशी संस्कृतियों के तत्वों को भारतीय संस्कृति ने ग्रहण किया एवं अपने कलंवर का विस्तार किया। शक, हूण, फारसी, अरब, मुगल से लेकर वर्तमान पाश्चाव्यीकरण के संक्रमण का दौर भारतीय संस्कृति ने देखा है। वर्तमान पाश्चाव्यीकरण के संक्रमण को कुछ रूढ़िपंथी अपसंस्कृति का दौर कहते हैं जो सर्वथा गलत है। वस्तुतः यह संस्कृति के संक्रमण का दौर है जिसे हम सफर का कारण मूलतः सभ्यता का होता तीव्रतम विकास है।

वर्तमान संचार क्रांति के दौर में जहाँ मोबाइल, इंटरनेट जैसी सुविधाएँ सुलभ हैं, अश्लीलता समाज में बढ़ रही है। किन्तु यह आश्लीलता भी मात्र-दृष्टि का ही फर्क है। अपने आपको सुसंस्कृत मानने वाली साड़ी पहनने वाली भारतीय महिला ब्रिटेन की **‘सॉर्ट-शर्ट’** पहनने वाली महिला को अश्लील मानेगी, किन्तु वही सुसंस्कृत भारतीय महिला बुरका पहने इस्लामी महिला की दृष्टि में अश्लील होगी क्योंकि इस इस्लामी महिला ने अपनी काया को पूर्ण नियोजित तरीके से ढक लिया है, जबकि भारतीय महिला ने उतना नहीं।

संस्कृति संक्रमण के इस दौर में मनोभावों का भी तीव्र परिवर्तन हुआ है, आज हम लोक संगीत के बजाय पॉप संगीत में, नाट्य मंचन की बजाए चलचित्र (फिल्म) देखने में एवं कुश्ती जैसे पारंपरिक खेलों की बजाए क्रिकेट जैसे खेलों में अपेक्षाकृत ज्यादा अभिरूचि दर्शाते हैं, जिसका दुष्परिणाम यह हो रहा है कि हमारी लोक संस्कृति शनैः-शनैः विलुप्त होती जा रही है, जिसके संरक्षण की अती आवश्यकता है। आज के तीव्रगामी, वैज्ञानिक युग में होली, दीपावली, क्रिसमस, ईद जैसे त्योहारों की महत्ता भी भूलते जा रहे हैं एवं अपनी **‘फास्ट लाइफ’** की धुन में मशगूल हैं।

वस्तुतः विज्ञान के तीव्र विकास ने मानव की रचनात्मकता को भी समाप्त कर दिया, मानव आज विज्ञान के समक्ष पंगु है और अपने अस्तित्व के संकट से जूझ रहा है। हरबर्ट मारक्यूज, सार्त्र एवं एरिड फ्रॉम जैसे पाश्चात्य विचारक भी इस समस्या से परिचित हैं। इनका मानना है कि विज्ञान के विकास ने उपभोक्तावादी संस्कृति को बढ़ावा दिया है तथा मानव का **‘अमानवीकरण’** कर दिया है। जब से कम्प्यूटर यंत्र का आविष्कार हुआ है, मानव की तार्किक क्षमताएँ एवं स्मृति क्षमताएँ उसके सामने बौनी हो गयी एवं उसके अस्तित्व पर संकट और अधिक गहरा गया है। मशीन के इन्हीं दुस्परिणामों को देखते हुए ही गांधी जैसे अध्यात्मवादी चिंतकों ने विज्ञान की बजाए अध्यात्म पर अधिक जोर दिया।

प्रसिद्ध शतरंज खिलाड़ी गैरी कास्पारोव ने कम्प्यूटर को शतरंज खेल में पराजित कर मानव की महानता सिद्ध की थी, किन्तु यह महानता कम्प्यूटर की सृजनात्मक क्षमता के अभाव के कारण थी, न कि तार्किक एवं स्मृति संबंधी क्षमता में कमी के कारण। वर्तमान कम्प्यूटर प्रौद्योगिकी का विकास की संभावना जतायी जा रही है जो प्रोटीन से निर्मित होगी एवं मस्तिष्क न्यूट्रॉन्स की तरह व्यवहार करेगी। यदि इस चिप का विकास हुआ एवं कम्प्यूटर में सृजनात्मकता का विकास हो गया तो वास्तव में मानव अस्तित्व हीन हो जाएगा तथा सभ्यता के चरम विकास का परिणाम मानवीय संस्कृति पर स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर हो जाएगा।

मानव की आवश्यकताएं क्रमशः बढ़ती जा रही हैं, मशीनीकरण का तीव्रता से विकास हो रहा है, जिससे व्यक्ति की प्रवृत्ति उपभोक्तावादी होती जा रही है और वर्तमान में हम उस उपभोक्तावादी संस्कृति का चरम स्तर देख रहे हैं। इस संस्कृति में संबंध स्थूल है। मानवीय संवेदनाएँ लुप्तप्राय होती जा रही हैं। जीन बौद्रिया ने अपनी पुस्तक उपभोक्ता युग (द कन्ज्यूमर एज) में इस प्रकार की संस्कृति को 'स्थूलता की संस्कृति' (द सुपरफीसियल कल्चर) नाम दिया है। वर्तमान में महानगरों में स्थित कॉल-सेन्टरों में इसी तरह की संस्कृति पनप रही है। इस उपभोक्तावादी संस्कृति का परिणाम यह हुआ कि हम समाज में बढ़ते यौन-अपराधों की बढ़ती संख्या का ग्राफ आए दिन समाचारपत्रों में देख सकते हैं।

वर्तमान में व्यक्ति के पास अध्यात्म चिंतन, आत्मविकास जैसे मूल्यों के लिए कतई समय नहीं है, व्यक्ति रात-दिन पैसे की भूख में मशीन की तरह जुत रहा है। सहिष्णुता एवं भाईचारे जैसे मूल्यों को आर्थिक भूख ने बर्बाद कर दिया है। इंटरनेट एवं वीडियो गेम जैसे यंत्रों के अविष्कार ने मानवीय प्रत्यक्ष संपर्कों को और अधिक कम कर दिया है। जिससे शहरी जीवन में एक विशेष प्रकार का सूनापन एवं अलगाव देखा जा रहा है। कुण्ठाएँ बढ़ रही हैं और कुण्ठित व्यक्ति अपराध भाव से ग्रसित होकर अपराधी तत्वों में संलग्न हो जाता है। डेविड राइज मैन ने इस कुण्ठाग्रस्त अलगाववाद संस्कृति को अपनी पुस्तक 'द लोनली क्राउड' में स्पष्ट करते हुए शहरी संस्कृति पर कटाक्ष किया है। फ्रांसीसी विचारक रूसों ने तो यहाँ तक कह दिया कि आधुनिक नगर मानव सभ्यता के कब्रगाह बनेंगे तथा प्रकृति की ओर लौटों का नारा दिया। वस्तुतः मशीनीकरण का विकास तो ठीक है, किन्तु मशीनों पर निर्भर होकर स्वयं एवं समाज से अलगाव ठीक नहीं है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि सभ्यता एवं संस्कृति अन्योन्याश्रित है। सभ्यता के विकास ने अदृश्य संस्कृति के स्वरूप में परिवर्तन कर दिया एवं सांस्कृतिक उथल-पुथल ने सभ्यता के ढाँचे को बदल दिया। वास्तव में मानसिक विचार व्यवहार में परिणत होते हैं एवं यही व्यवहार सभ्यता के ढाँचे को बदल देता है। कहा भी गया है कि कलम देश की बड़ी शक्ति है भाव जगाने वाली दिल ही नहीं दिमागों में भी आग लगाने वाली। सभ्यता का बाह्य ढाँचा जो वर्तमान में दिखाई दे रहा है वह येन-केन-प्रकारेण मानसिक विचारों का ही परिवर्तित है। साथ ही संस्कृति का वर्तमान स्वरूप भी सभ्यताओं के क्रमिक विकास का परिणाम है।

किन्तु सभ्यता के विकास के साथ संस्कृति की धारा को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए यह अत्यावश्यक है कि सभ्यता के विकास के साथ सांस्कृतिक मूल्यों को विलुप्त होने से बचाया जा सके ताकि पुरातन मूल्यों के साथ नवीन मूल्यों को यह नव-संस्कृति धारण कर सके। संस्कृति जिन नवीन तत्वों को अपने कलेवर में समाहित कर रही है उनके संदर्भ में ध्यान देने योग्य बात यह है कि नवीन मूल्य जो भूमण्डलीकरण के कारण संस्कृतियों में आदान-प्रदान हो रहे हैं, नैतिकता को प्रश्न देने वाले हो न कि खुलेपन के नाम पर अश्लीलत्व को साथ ही रूढ़िवादी लोगों को भी अपने पूर्वाग्रह से मुक्त होकर नवीन मूल्यों को सहर्ष स्वीकार कर लेना चाहिए ताकि संस्कृति पुरातनता का निर्मोक (केंचुल) त्याग कर प्रगतिशील समय के साथ जीवित रह सके।

तीव्र मशीनीकरण के प्रयोग से उत्पादन तो बढ़ रहा है, किन्तु उसके न्यायपूर्वक वितरण की संस्कृति सुनिश्चित होनी चाहिए। आध्यात्मिक उत्थान के साथ-साथ भौतिक विकास की चरमावस्था का संतुलन अपरिहार्य है, यही विवेकानंद के वेदांती समाजवाद का महत्वपूर्ण लक्षण है और आज की प्रगतिशील संस्कृति की महत्ती आवश्यकता।